

1966 No. 2
* श्री ३४ तत्सत् *

✽ सहज-मार्ग ✽

SAHAJ MARG



(All rights reserved)

Shri Ram Chandra Mission

Publication Department

SHAHJAHANPUR U.P. (India)

1966. No 2.

* सम्पादक-मण्डल *

श्री काशीराम अग्रवाल (शाहजहाँपुर) हिन्दी विभाग
डा० सूर्य प्रसाद श्रीवास्तव (लखीमपुर खीरी) अंग्रेजी विभाग

विषय-सूची

हिन्दी- विषय	लेखक	पृष्ठ
१-गीत	संध्या	२
२-चरम कोटि	श्री रामचन्द्र जी महाराज	३
३-चंचलता	श्री ईश्वर सहाय	६
४-हीर कण	कु० कस्तूरी चतुर्वेदी	११
५-भक्ति और सहजमार्ग	कु० शशि टण्डन	१२
६-स्वागत गीत	श्री रामावत डींगर	१८
७-भ्रमजाल	श्री जे. आर. के. रायजादा	१९
८-सहज मार्ग की युग अनुकूलता	श्री राजेश्वरी प्रसाद श्रीवास्तव	२३

ENGLISH SECTION

8. Natures Workshop —Shri Ram Chandra ji President	25
9. Self Culture —Shri Vijayarangachari & Sahaj Marg	31
10. Free Thinking —Shri S. A. Sarnad Dogmatism & orthodoxy	37
11. The Natural — Shri Marni T. Ramji technique of experiencing Perfect calmness	41
12. Ascetic with —Shri B. D. Mahajan a difference	46

Annual Subscription Rs. 4. 0 0

* ॐ *

सहज मार्ग

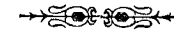
उत्तिष्ठ जागृत प्राप्य बरान्निबोधत ।

(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो ।)

वर्ष ९	} सम्बत् २०२३ विक्रमी	} Year 9
अङ्क २		

* प्रर्थना *

हे नाथ ! तूही मनुष्य जीवन का ध्येय है,
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक है,
तूही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है,
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।



O, Master !
Thou art the real goal of Human life,
We are yet but slaves of wishes,
putting bar to our advancement.
Thou art the only God and Power
To bring me upto that stage.



* संध्या *

मोरे राम राम दोऊ अँखियाँ ।
 सुन्दर सहज-मार्ग-सागर मँह, सद्गुरु नाम खेवटियाँ ॥
 कोऊ कह पुरन-ब्रह्म परमेश्वर, नैन नहीं दखियाँ ।
 मैं जो निकसी-पीव मिलन को, ओट लईं रखियाँ ॥
 सुरत-कलेवर, आस निवासिनी, नवल-ज्योति लखियाँ ।
 शील, संतोष सिमट चपटाने, डतिन लईं बखियाँ ॥
 बीथिन बीथिन खेलत दौरी, धीर कहाँ धरियाँ ।
 छिन छिन आय बहत जल धारा, हैं कपोल भखियाँ ॥
 बूँद बूँद मधुमास सँजोयो, बावरि मधुमखियाँ ।
 "संध्या" राम-चरण रतिमानी, बूड़ गईं अँखियाँ ॥

चरम कोटि

(अध्यक्ष श्री रामचन्द्र जी महाराज)

दुनिया में बेशुमार मनुष्य हो चुके हैं जो एक दुसरे से बढ़चढ़ कर माने गये हैं, संत महात्मा, ऋषि, मुनिजानी व गुरु बहुत हो चुके हैं जो कि एक दुसरे से अधिक योग्य और पहुँचे हुये जाने गये हैं अर्थात् दुनिया कभी इन लोगों से खाली नहीं रही, दीपक हमेशा टिमटिमाते ही रहे और कुछ न कुछ प्रकाश भी फँकते रहे जिस से मनुष्य को लाभ भी होता रहा; परन्तु असल दीपक तभी प्रकाशित होता है जब कि ईश्वर की इच्छा और आज्ञा होती है, वर्तमान समय भी ऐसा ही समय है, जब कि वह असल दीपक प्रकाशवान है जैसा कि मैंने अपनी किताब (Efficacy of Rajyoga) में लिखा है अब आवश्यकता केवल इस बात की है कि लोग पतिगों की भाँति बनने की चेष्टा करें ।

मेरी प्रबल इच्छा थी कि मैं लोगों को आध्यात्म उन्नति की अन्तिम हद का कुछ अन्दाजा करा दूँ । जिस के विषय में मैंने अपनी पुस्तकों में जगह जगह पर कुछ बताया है । सहज - मार्ग की आध्यात्मिक शिक्षा भी उस अन्तिम लक्ष्य पर निगाह रखते हुये उसी प्रकार उच्चकोटि की है । साधारण नियम है कि एक ऊँचे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शिक्षा भी उसी प्रकार ऊँची होना आवश्यक है, जो कि हमें अन्तिम ध्येय की प्राप्ति में सहायक हो ।

इस विषय को मैंने कई वृत्तों द्वारा जो कि एक ही केन्द्र से भिन्न-भिन्न दूरी पर खींचे गये हैं स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । (Reality at Dawn) में दिये गये हुये चित्र के अनुसार, हमारा वर्तमान स्थान सब से बाहरी वृत्त से दिखाया गया यहाँ से हमको अपने मुख्य लक्ष्य अर्थात् केन्द्र की ओर जाना है यही हमारी कुल यात्रा है और यही केन्द्र उस का अन्त । रास्ते में हमें बीच के उन तमाम वृत्तों को पार करते हुये जाना है । यह वृत्त वास्तव में आध्यात्मिक उन्नति की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं जिन को मैंने इस ढंग से रक्खा है, इन में से हर एक के अन्दर बेशुमार पर्दे तह पर तह मौजूद हैं ।

* संध्या *

मोरे राम राम दोऊ अँखियाँ ।
 सुन्दर सहज-मार्ग-सागर मँह, सद्गुरु नाम खेवटियाँ ॥
 कोऊ कह पुरन-ब्रह्म परमेश्वर, नैन नहीं दखियाँ ।
 मैं जो निकसी-पीव मिलन को, ओट लईं रखियाँ ॥
 सुरत-कलेवर, आस निवासिनी, नवल-ज्योति लखियाँ ।
 शील, संतोष सिमट चपटाने, डतिन लईं बखियाँ ॥
 बीथिन बीथिन खेलत दौरी, धीर कहाँ धरियाँ ।
 छिन छिन आय बहत जल धारा, हैं कपोल भखियाँ ॥
 बूँद बूँद मधुमास सँजोयो, बावरि मधुमखियाँ ।
 "संध्या" राम-चरण रतिमानी, बूड़ गईं अँखियाँ ॥

चरम कोटि

(अध्यक्ष श्री रामचन्द्र जी महाराज)

दुनिया में बेशुमार मनुष्य हो चुके हैं जो एक दुसरे से बढ़चढ़ कर माने गये हैं, संत महात्मा, ऋषि, मुनिजानी व गुरु बहुत हो चुके हैं जो कि एक दुसरे से अधिक योग्य और पहुँचे हुये जाने गये हैं अर्थात् दुनिया कभी इन लोगों से खाली नहीं रही, दीपक हमेशा टिमटिमाते ही रहे और कुछ न कुछ प्रकाश भी फँकते रहे जिस से मनुष्य को लाभ भी होता रहा; परन्तु असल दीपक तभी प्रकाशित होता है जब कि ईश्वर की इच्छा और आज्ञा होती है, वर्तमान समय भी ऐसा ही समय है, जब कि वह असल दीपक प्रकाशवान है जैसा कि मैंने अपनी किताब (Efficacy of Rajyoga) में लिखा है अब आवश्यकता केवल इस बात की है कि लोग पतिगों की भाँति बनने की चेष्टा करें ।

मेरी प्रबल इच्छा थी कि मैं लोगों को आध्यात्म उन्नति की अन्तिम हद का कुछ अन्दाजा करा दूँ । जिस के विषय में मैंने अपनी पुस्तकों में जगह जगह पर कुछ बताया है । सहज - मार्ग की आध्यात्मिक शिक्षा भी उस अन्तिम लक्ष्य पर निगाह रखते हुये उसी प्रकार उच्चकोटि की है । साधारण नियम है कि एक ऊँचे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शिक्षा भी उसी प्रकार ऊँची होना आवश्यक है, जो कि हमें अन्तिम ध्येय की प्राप्ति में सहायक हो ।

इस विषय को मैंने कई वृत्तों द्वारा जो कि एक ही केन्द्र से भिन्न-भिन्न दूरी पर खींचे गये हैं स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । (Reality at Dawn) में दिये गये हुये चित्र के अनुसार, हमारा वर्तमान स्थान सब से बाहरी वृत्त से दिखाया गया यहाँ से हमको अपने मुख्य लक्ष्य अर्थात् केन्द्र की ओर जाना है यही हमारी कुल यात्रा है और यही केन्द्र उस का अन्त । रास्ते में हमें बीच के उन तमाम वृत्तों को पार करते हुये जाना है । यह वृत्त वास्तव में आध्यात्मिक उन्नति की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं जिन को मैंने इस ढंग से रक्खा है, इन में से हर एक के अन्दर बेशुमार पदों तह पर तह मौजूद हैं ।

एक एक तह को पार - करने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है। इन वृत्तों में सुख के पाँच वृत्त माया का क्षेत्र कहे गये हैं और यही मानव जीवन की पहली मंजिल है। आरम्भ में यह दशा गाढ़ी और ठोस रहती परन्तु आगे बढ़ने पर धीरे-धीरे पतली व हल्की होती जाती है। पाँचवें वृत्त तक पहुँचने पर यह दशा अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है यहाँ तक कि माया का असर भी लोप होने लगता है, इस दशा को प्राप्त किया हुआ-मनुष्य माया रहित कहा जा सकता है और यह अव्यक्त गति की दशा है लोगों ने उसे जीवन मोक्ष की दशा भी कहा है खुलासा यह कि माया के कड़े बन्धनों से छुटकारा मिल जाता है। इस के बाद जो कुछ भी रह जाता है वह माया का शुद्ध व वास्तविक रूप है साधारणतयः लोगों का यह विचार है कि माया के बन्धनों से मुक्त होने का अर्थ यह है कि हमारा प्रवेश ईश्वरीय मंडल में हो गया।

इसका अर्थ यह हुआ कि माया के पाँच वृत्तों को पार करने के बाद दूसरा क्षेत्र ईश्वरीय मंडल ही है; परन्तु मुझे गुरु महाराज से रोशनी मिलने पर यह ज्ञात हुआ कि ऐसा नहीं है, माया की श्रेणियों अर्थात् आरम्भ के पाँच वृत्तों के बाद दूसरा क्षेत्र अहंकार (Ego) का है, जिसको मैंने आगे और ग्यारह वृत्तों में प्रगट किया है, यह अहंकार की ग्यारह श्रेणियाँ हैं। हर एक वृत्त पर की दशा का अलग अलग वर्णन करना बहुत ही कठिन है - क्यों कि इस के लिए शब्द ही नहीं मिलते अब हमारी यात्रा अहंकार के इस मैदान में शुरू होती है और हम एक एक करके उन वृत्तों को पार करते हुये आगे चलते चले जाते हैं। समझने के लिए केवल इतना कहना काफी है कि ज्यों ज्यों हमारा पग आगे बढ़ता जाता है, अहंकार की दशा जो आरम्भ में गाढ़ी और स्थूल थी, अब धीरे-धीरे हल्की और सूक्ष्म होती जाती है - यहाँ तक कि अन्तिम वृत्त तक पहुँचने पर अहंकार लगभग समाप्त हो जाता है, अहंकार का पूर्ण रूप में नष्ट हो जाना है विल्कुल असम्भव है, कुछ न कुछ अवश्य रहेगा परन्तु वह इतना सूक्ष्म होगा कि उस को अहंकार कहना भी उचित न होगा, उस को समझने के लिए एक अत्यन्त हल्का अहं भाव कह सकते हैं, इस प्रकार से इन सोलह वृत्तों को पार करके हम माया और अहंकार के बन्धनों से मुक्त हो गये और हमारा पग ईश्वरीय मंडल में जिसको कि मैंने (Central Region) कहा है, पहुँच गया।

वहाँ पर न माया है न अहंकार केवल एक अत्यन्तसूक्ष्म अहंभाव जिसको मैंने (Identity) कहा है। इस मंडल में भी सात श्रेणियाँ हैं, जिन को मैंने प्रकाश के सात बेरे कह कर प्रगट किया है; परन्तु वह प्रकाश भी कैसा जो केवल

कहने मात्र, ज्यो-ज्यो हम इन बेरों को पार करते हुये आगे बढ़ने जाते हैं, त्यों-त्यों Identity का वह गहरा भाव जिसको जैस कहना उचित होगा, धीरे-धीरे सूक्ष्म होता चला जाता है यहाँ तक अन्तिम बेरे तक पहुँचने पर (Identity) अपना वास्तविक रूप धारण कर लेती है। इसका अर्थ यह हुआ कि अहं भाव भी नष्ट हो जाता है। इसके बाद खाली तैराकी ही तैराकी रह जाती है। अब हम उस अनन्त सागर में तैरते चले जाते हैं जिसका ओर छोर नहीं। अब मनुष्य उस जगह पर पहुँचता है जिसको मैंने अपनी किताब में अन्तिम क्षेत्र प्रगट किया है।

समस्त बन्धनों से मुक्ति पाने पर मनुष्य इस दशा को प्राप्त होगा ही, परन्तु बात तो तब है कि जब जीवन में ही इस दशा तक पहुँच जाये और यह बात अब तक बिल्कुल असम्भव मानी गई थी। मेरा विचार है कि हमारे गुरु महाराज से पूर्व शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिन्होंने अपने जीवनकाल में इस हद तक उन्नति की हो। वास्तव में यह हमारे गुरु महाराज का ही आविष्कार (Invention) है, कि मनुष्य अपना साधारण जीवन सुरक्षित रखते हुये उस अपार और अनन्त सागर में तैराकी प्राप्त कर सके मैंने हर वृत्त की दशा को अलग-अलग वर्णन करने की चेष्टा की है। मगर उसके लिये उचित शब्द न प्राप्त हो सके।

मालूम नहीं कि ईश्वर ने अपनी वास्तविक दशा को कहाँ तक छिपा कर रखा है जिस का न ओर है न छोर। प्रकाश के सात बेरों को पार करने के बाद यदि मस्तिष्क पर अधिकार बाकी रहे और उसके लिए शब्द भी प्राप्त हो जाये तो भी न मालूम आगे क्या क्या मिलेगा? जहाँ तक अपने विचार दृष्टि से इस का अनुमान लगाने का प्रयत्न करता हूँ तो केवल होश उड़ने के और कुछ हाथ नहीं आता असल केन्द्र निष्क्रिये (Inactive) है उसके गिरद भी एक प्रकार का वृत्त अनुमान में आता है और यही बस अन्तिम वृत्त है। मैं उसका कुछ अनुमान जरूर लगा सका हूँ परन्तु उसका वर्णन करना असम्भव है। इस से अध्यात्मिकता के प्रेमी अन्दाजा लगा सकते हैं कि ध्येय प्राप्ति के लिए उन को कितना चलना है और कहाँ पहुँचना है और वह कितना कठिन है। यह केवल प्राणाहुति की ही शक्ति है जो कि सहज-मार्ग का मुख्य अंग है जो इस अत्यन्त कठिन कार्य को इतना सुगम बना देती है - और इस जन्म जन्मान्तर की समस्या को एक ही जीवन के अन्दर सुलभा देती है।

चंचलता

—श्री ईश्वर सहाय

मन का स्वभाव चंचल कहा गया है। और यही उसका सबसे बड़ा दोष माना जाता है क्योंकि यही हमारे सब विगाड का कारण बन जाता है। यह सत्य है कि मन क्षण मात्र भी शान्त और स्थिर नहीं रहता है। हर समय तरह तरह के विचार और धारणायें बनाता रहता है और इन्हीं में उलझा रहता है। इस चंचलता के कारण मनुष्य को चैन विल्कुल नहीं मिल पाता। यह उसके सामने सबसे बड़ी समस्या है और हर व्यक्ति उसके कारण दुःखी और परेशान है। तरह-तरह से इस दोष को दूर करने के उपाय सोचता रहता है परन्तु समस्त प्रयत्नों के होते हुये भी चंचलता दूर नहीं हो पाती।

इसका कारण यह है कि चंचलता दूर करने हेतु अपनाये गये समस्त उपाय या साधन स्वयं ही गलत होते हैं। चंचलता को दूर करने हेतु साधारणतः मन को बल पूर्वक दवाने और कुचलने के उपाय प्रयोग में लाये जाते हैं और वह भी इस सीमा तक कि मन की शक्ति कम होजाये और वह बुराइयों की तरफ ले जाने के योग्य न रहे; परन्तु फिर भी एक बात यह भी है कि जहाँ वह बुराईकी तरफ लेजाने योग्य न रहा तो फिर हमें भलाई की तरफलेजाने वाली कौन सी चीज रह जाती है। यह स्मरण रहे कि जहाँ मन बिगड़ी हुई दशा में हमें अवनति की ओर घसीटता है वहाँ वही मन शुद्ध स्थिति में हमें उन्नति की ओर लेजाने का एक मात्र उपकरण है वास्तव में ईश्वर तक पहुँचने के लिये हमारे पास यही एक यन्त्र है इसकी शक्ति नष्ट कर देने के बाद ईश्वर के पास पहुँचने के लिये हमारे पास कोई भी चीज नहीं रहती अतः मन को बल पूर्वक कुचलना या दबाकर चुप करना पूर्णतः अनुचित उपाय है जिसमें सफलता कभी नहीं मिल सकती। दूसरी बात यह भी है कि मन को बल पूर्वक दबाये रखने का यह अर्थ नहीं उसकी वह बुराई दूर हो गई क्योंकि यदि बुराई दूर हो गई तो दबाये रखने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता।

वास्तव में जब तक दबाये रखने का प्रश्न सामने है। तब तक बुराई अन्दर ही दबी रहेगी ! जिससे वह क्रियाशील नहीं हो पाती। दूसरे शब्दों में यह बुराईयाँ कार्य रूप में परिणित होने के बजाय विचार रूप में कार्यरत रही परन्तु बुराई बुराई ही है। चाहे वह कार्य रूप में हो चाहे विचार रूप में। दोनों स्थितियों में वह दोष ही रहा। इसके अतिरिक्त जब दोष अन्दर विद्यमान है तो

(७)

सम्भव है कि किसी भी समय बन्धन लेश मात्र भी ढीला पड़ने पर वह दोष उभर आये और कार्यन्वित होने लगे।

इस प्रकार से वास्तव में मनको बलपूर्वक अधिकार में रखने Control of mind से कोई सुधार न हुआ वरन् जीवन भर यह संघर्ष ही रहा और इसी में सारा जीवन बीत गया; परन्तु प्राप्ति कुछ भी न हुई। अब हमे विचार यह करना है कि चंचलता वास्तव में वस्तु क्या है। इससे प्रथम हमें यह सोचना चाहिये कि मन में है क्या चीज हमारे “श्री बाबू जी महाराज” ने अपनी पुस्तक Efficacy of Rajyoga में लिखा है कि सृष्टि रचना का प्रारम्भ क्षोभ से हुआ। इसके पूर्व पूर्ण रूपेण शक्ति और सन्तुलन की दशा व्याप्त थी। जब रचना का समय आया मूल केन्द्र के चारो ओर एक प्रकार की अशान्ति। हलचल और गति शीलता जिसको क्षोभ कहा गया है, पैदा हुई। अर्थात् इस शान्ति की दशा में एक प्रकार की चंचलता प्रारम्भ हो गई। यही चंचलता क्षोभ सृष्टि रचना का कारण बनी और इसी के प्रभाव से क्रियायें, प्रतिक्रिया में और उत्पत्ति प्रारम्भ हो गई। इसी क्षोभ का अंश अर्थात् चंचलता का भाग मन के रूप में मनुष्य में भी उत्तर और मनुष्य के निर्माण का कारण बना। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्यनिर्माण का कारण उसका मन ही बना और वहचंचलता का ही रूप है। इस प्रकार से मन और चंचलता दो भिन्न चीजे नहुई। यदि मन को चंचलता और चंचलता को मन कह लिया जाय तो गलत न होगा वास्तव में चंचलता ही मन का वास्तविक रूप है ऐसी दशा में यह सोचना या प्रयत्न करना कि मन से चंचलता दूर हो जावे पूर्णतः अनुपयुक्त तथा अस्वाभाविक है इस प्रकार से जब चंचलता मन का स्वाभिक गुण है तो यह विगाड का कारण कैसे बन गया। यह ठीक है कि चंचलता तो है ही और विद्यमान रहेगी भी परन्तु उसका प्रयोग हम किस प्रकार करते हैं। अन्तर बस इसमें पड़ता है इसके अनुचित प्रयोग से वही हमारे कल्याण का उपकरण बन जाता है। संसार में कोई चीज अनुचित नहीं है। दोष केवल अनुचित प्रयोग से आ जाता है। हमने चंचलता का सही प्रयोग नहीं किया इसी से यह समस्त बुराइयों का कारण बन गई। यदि उसकी उचित रूप से प्रयोग में लाया जावे तो यही हमारे कल्याण का उपकरण बन सकता है।

अब यह सकम्भना है कि हमने उसका अनुचित प्रयोग किया। वाह्य रूप में मनुष्य भौतिकता की प्रतिमूर्ति बना हुआ है। शरीर से उसका घनिष्ठ संबंध होने के कारण मन हर समय शरीर और उससे सम्बन्धित चीजों के विचार ही में डूबा रहता है। और यह चीजें स्थूल होने के कारण स्थूल प्रभाव डालती है। इस कारण मन की समस्त दौड़-धूप स्थूलता क क्षेत्र में ही निहित रहती है। इसके

सारे विचार और कार्य स्थूलता के रंग में डूबे रहते हैं और इन्हींमेंवह फँसा रहता है मनुष्य में दो तत्व हैं एक ईश्वरीय और दूसरा मानवी तत्व। चूँकि उसका मन हर समय शरीर सम्बन्धी विचारोंमें उलझा रहता है। इसी कारण मानवी तत्व की धारा प्रभावशाली और वेगवती होती जाती है और वह शनैः शनैः अपने में ईश्वरीय तत्व की उपस्थिति के अनभिज्ञ और अज्ञान होता जाता है। यहाँ तक कि ईश्वरी तत्व की धारा मन्द पड़ती जाती है और ईश्वरीय विचार ओझल होने लगता है। परिणाम यह होता है कि वह दूसरे अर्थों में ईश्वर से दूर होता गया। यही बिगाड का कारण है। इसी को सम्भालना है। सुधार की स्थिति तभी पैदा हो सकती है जब हम मन की प्रवृत्ति को भौतिकता की ओर से घुमाकर ईश्वर की तरफ कर दें। कितनी सरल युक्ति है। और कितनी साधारण बात है। इस प्रकार मन की चंचलता तो जैसी की तैसी रही अन्तर केवल इतना पड गया कि अब वह स्थूलता की ओर बढ़ने के स्थान पर सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हो गई। इस प्रकार से हमारे अन्दर शनैः-शनैः ईश्वरी तत्व का बहाव तेज और वेगपूर्ण होने लगा और मानवी तत्व उसमें डूबता गया दोनों तत्व फिर भी विद्यमान रहे और अपने अपने स्थान पर उचितकाम करते रहे। सन्त के लिये यह समझना कि वह मानवीय स्तरसे परे है। पूर्णतयः असत्य हैं। सन्त भी मनुष्य ही होता हैं। और मानव नियम उस पर भी लागू होते हैं। यद्यपि कि यह अवश्य है कि उसके समस्त कार्य और प्रवृत्तियाँ ईश्वरी रंग में डूबे हुये रहते हैं। यही सुधार है जो हमें अभ्यास मेंलाना है। इसके लिये केवल वही उपाय लाभप्रद हो सकते हैं जो हमारे मन से स्थूलता के प्रभावो को दूर करने और उसको ईश्वर की ओर अग्रसर करने में सहायक हो। मन की चंचलता को भौतिकता की ओर झुकी है। ईश्वर की तरफ घुमा दे। उसके लिये यह आवश्यक है कि हमारा मन व्यर्थ के विचार और अनुचित बातों को सोचने के स्थान पर ईश्वर सम्बन्धी विचार बनावे और मन उन्हीं में संलग्न रहा करे।

यह बात तभी सम्भव है जब अपने मन को ईश्वरी याद में लगा दें। चंचलता क प्रभाव से मन हर समय किसी न किसी विचार में व्यस्त रहेगा ही अतः उसका सोचने के लिये सामग्री हम ऐसी प्रस्तुत करे। जो उसे भलाई की ओर ले जावे और साथ ही साथ हमारे ध्येय प्राप्ति में लाभप्रद हो। यह केवल ईश्वरी याद ही हो सकती है अर्थ यह हुआ कि हम खाली समय में इस युक्ति से इसकी चंचलता भी हमारे लिये लाभ प्रद बन जावेगी और बुराई पैदा करने क स्थान पर यही हमारे कल्याण का उपकरण बन जायगा।

कहा जाता है कि किसी व्यक्ति ने अपनी सेवा हेतु एक देव को सिद्ध

किया। जब देव उसके सामने उपस्थित हुआ तो उसने उसकी सेवा करने का वचन देते हुये अपनी भी एक शर्त रखी, वह यह कि उसको हर समय करने के लिये काम मिलता रहे अन्यथावह उस व्यक्ति को मार डालेगा। उस व्यक्ति ने इस बात पर अधिक ध्यान नहीं दिया और उसकी शर्त स्वीकार कर ली। उसको एक के बाद दूसरा काम करने के लिये बताता रहा। परन्तु हर कठिन से कठिन काम वह क्षण भर में कर लेता और अन्य काम के लिये उपस्थित हो जाता था। थोड़ी देर बाद ही उस व्यक्ति को अनुभव हुआ यह बहुत कठिन शर्त है। अब उसको बताने के लिये काम मिलना ही दुर्लभ हो गया। शनैः २ उसकी बेचैनी बढ़ने लगी। वह इसी सोच में बेचैन बैठा था कि इतनेमें उधर से एक महापुरुष निकले। उसकी बेचैनी देखकर उसकी उलझन का कारण पूछा। उसने समस्त हाल उसे बताया। महापुरुष ने हँसकर कहा कि यह कौन सी उलझन है ! आप एक युक्ति करें। एक लम्बा वाँस मँगवा कर पृथ्वी में गड़वा कर खड़ा कर दें और जब कोई काम न हो उस देव से कहें कि ऊपर चढ़ो और नीचे उतरो। खाली समय में उसे इसी काम में व्यस्त रखो। उस व्यक्ति ने यही किया और इस प्रकार से उसे उस कठिनाई से छुटकारा मिल गया ? बिल्कुल यही बात मन के विषय में है। वह एक क्षण भी इस देव की भॉति खाली नहीं रहसकता उसका उपचार यही है कि खाली समय में वाँस पर चढ़ने और उतरने के काम में लगाये रखाजाये। इसहेतु ईश्वरी याद ही ऐसा विषय है जो सबसे अधिक लाभप्रद होगा और जो हमारे मन की चंचलता के लिये उत्तम सामग्री प्रस्तुत करता रहेगा और हमारे ध्येय प्राप्ति में सहायक होगा। सतत स्मरण या Constant Remembrance यही चीज है जो हमारी सारी कठिनाइयो या समस्या का हल है और हमारे कल्याण का मुख्य साधन अतः सहज मार्ग में इसी चीज पर अधिक बल दिया गया है।

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि इस बिगड़े हुये मन को सुधार कर ईश्वर की ओर लगाने के लिये हमारे पास उपकरण कौन सा है। उपकरण केवल एक ही है और वह है हमारा मन। परन्तु जब मन ही बिगड़ा हुआ है तो उसे सम्भालेगा कौन ? बिगड़े हुये मन से ही मन की बिगड़ी स्थिति को सुधारना असम्भव है। यही हमारी सबसे बड़ी समस्या है। उसकी युक्ति भी हो सकती है। हम किसी ऐसे के मन की सहायता लें जो इस चरम शुद्ध अवस्था को प्राप्त हो गया हो। अब यहीं पर ऐसे गुरु की आवश्यकता हो जाती है जो हमरे मन को सुधार कर शुद्ध अवस्था में लानेसमर्थ हो और यही गुरु का मुख्य कर्तव्य है। वास्तव में गुरु वह नहीं जो मौखिक उपदेश या पुस्तकों में दी हुई बातों को हेर फेर कर हमें

समझाने, या ईश्वरी विषय पर लम्बे चौड़े भाषण देने के योग्य हो, या ज्ञानी ध्यानी भक्त हो वरन यथात में सच्चा गुरु वही है। जो स्वयं इस अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचा हो और दूसरों को अपनी आन्तरिक शक्ति से वहाँ तक पहुंचने में समर्थ हो। साधक किस वस्तु के लिये गुरु का आश्रित है। इसलिये नहीं कि उसे कुछ पुस्तकीय ज्ञान या धार्मिक नियम बताये जावें या चमतकार दिखा कर उसके हृदय को आश्चर्य में डाले या उसकी सांसारिक इच्छाओं को पूरा करने में उसका सहायक हो। वरन इसलिये कि वह जिस चीज का वास्तविक में आश्रित है और जिसकी प्राप्ति उसकी शक्ति से परे है। उसके प्राप्त करने में उसका सहायक हो। वह कौन सी चीज है? वह ईश्वरीय कृपा है। जिसक बिना कोई प्रप्ति हो ही नहीं सकती यही ईश्वरी कृपा जो हमारी समस्त समस्या का हल है और जिसको हमें प्राप्त करना है अपने वर्तमान पतन की स्थिति में हम उससे कोसों दूर हैं। और न हममें इतनी सामर्थ्य है कि हम ईश्वरी कृपा का प्रवाह अपनी और खींच सकें। यह गुरु ही है? जो अपनी महान कृपा से इस कृपा धारा को हमारी अवश्यकतानुसार परिवर्तित करता रहता है। जब तक कि साधक अपनी शक्ति से उसे अपनी ओर खींचने के योग्य नहीं बन जाता। यही है गुरु कृपा जिसक लिये हमें अपने को पात्र बनाना है? समस्त सधनों और क्रियाओं का यही उद्देश्य है।

याद (Remembrance) दो तरह की होती है एक तो मन से ऊपरी स्थल की, दूसरी मन की भीतरी अर्थात् गहरे स्थल की। प्रथम दशा में मनुष्य को इसका पता रहता है दूसरी दशा में उस को इस का पता भी नहीं रहता।

मनुष्य को कोशिश यह करना चाहिये कि संसार सम्बन्धी विचार दूसरे स्थल तक न पहुंचने पावे। इस का यह अर्थ नहीं कि इन बातों की फिक्र या कोशिश न की जावे। इस से संसारी कामों में भी या कर्तव्य पालन में तनिक भी तुटि न रहेगी। आध्यत्मिक विचार दूसरे स्थल में पहुंचा देना चाहिये। ऐसा कर देने पर दूसरे स्थल में प्रथम स्थल की दशा भी स्वयं व्याप्त हो जायगी।

—श्री बाबू जी

हीर कण

(कु० कस्तूरी चतुर्वेदी)

दूर सुदूर से प्रभात - रागिनी बज उठी है जिससे हृद - तंत्री का तार तार अँगड़ाईयाँ ले रहा है। किन्तु तू? फिर भी मौन पड़ा किसकी बात निहार रहा है। वह आयेगा अवश्य परन्तु उसे देर हो जायेगी तब तक तू नित्य-कर्मों से निवृत्त हो जा। मेरी नही सुनता तो न सुन प्रेयसी (चेतना) जब जगाने आयेगी तेरे अंग - अंग में प्राण भर उठेगा! तेरी श्वास - श्वास में चेतना उमड़ आयेगी। जब सुरति की सवारी पर बैठ कर 'वह' आयेगा — तू जाग उठेगा!

+ + + +

किनारा दूर नहीं है, यह कवल देखने मात्र से ही दूर प्रतीत होता है। ओ मांभी। (विचारों रूपी) नाव का रुख इधर मोड़ दे। तेरी नाव तो किनारे से बँधी है, सागर से इसका संबंध ही कहाँ है। सागर की लोल - लहरियों पर तो तू केवल अठखेलियाँ मात्र ही करने गया था। लौट आ मांभी लौट आ। नैया दूर है किन्तु किनारा दूर नहीं है।

+ + + +

ओ मांभी! नाव किनारे ले आ। इस अथाह चौरासी - लक्ष भँवरों से भरे सागर में तेरी नाव भला कितनी देर ठहर सकेगी। उस पर भी भाँति भाँति के मगरमच्छ एवं भयानक जन्तुओं का सामना तू किस प्रकार कर सकेगा! सागर का खारा जल कभी भी तेरी प्यास न बुझा सकेगा। ओ मांभी। नाव किनारे पर ले आ।

+ + + +

किनारा दूर नहीं है। तू किंचित मात्र भी भयभीत न हो। नैया को इधर मोड़ ले किनारा स्वयं ही निकट आ जायेगा। तुझे भय है कि कहीं भयानक पशु पक्षी तेरा पीछा न करें और फिर तेरे प्राण न बच पायेंगे किन्तु। किनारा निकट है तू आ पहुंचा है।

+ + + +

देख, वह देख प्रियतम कितना सन्निकट आ पहुंचा है। अब तो केवल इतना ही शेष रह गया है कि दौड़ चल और उसे गले लगा ले। बस तब गुड और शीर की भाँति तू एक हो जायेगा। फिर कोई तुझे न पहचान पायेगा और न तू ही किसी को पहचान पायेगा। छाया - जगत विलीन हो जायेगा और केवल वही रह जायेगा जिसे रहना चाहिये। लो यह मिलन की देला आ पहुंची।

भक्ति और सहज-मार्ग

कु० शशि टण्डन

मनुष्य स्वभाव में प्रेम तथा त्याग की प्रवृत्ति (भावना) जन्मजात होती है; परन्तु पर्दे पड़ते गये और मानव जीवन में कठोरता बढ़ती गयी और हमारा जीवन ईश्वर से उतना ही दूर होता गया जितना हमारे अन्तर में प्रेम और त्याग का अन्तर बढ़ता गया ।

आज हम सब खो बैठे हैं । हममें जल्दबाजी आ गई है और हम एक बार ही कूदकर उच्च से उच्चतर और उच्चतर से उच्चतम आदर्श को पकड़ना चाहते हैं; किन्तु कूदने-फाँदने से तो कुछ होता नहीं, उल्टे लँगड़े होकर मर जाते हैं । हम लोग आज समयबद्ध हैं साँकर को धीरे-धीरे तोड़ना होगा । इसके लिये हमें अपने में भक्ति भाव जाग्रत करना होगा ।

इसके लिये हमें सतर्क रहना होगा क्योंकि भक्ति शारीरिक उछल-कूद से नहीं होती और न जादुई करिश्मों से । यहाँ तक कि आँसू जो भक्ति में अपना विशेष महत्व रखते हैं वास्तविक भक्ति के द्योतक नहीं । मूढ़ व्यक्तियों द्वारा कहलाने योग्य संतगणों के शिष्यगण अशु बहाव क्रिया के भी अच्छे ज्ञाता होते हैं ।

साधुओं के शिष्य तो यूँ भक्ति दिखा देते हैं । अब रहे दुनियावी-भक्ति दिखाने वाले मानव-मानवता से प्यार करने वाले—महान् पुरुष कहलाने वाले मानव—अपनी भावनाओं को उत्तेजित करके भक्तिभाव प्रदर्शित करते हैं; परन्तु क्या वे यह नहीं जानते कि ऐसी भक्ति का अन्त क्या होता है । जानते तो अवश्य हैं परन्तु फिर भी जानना नहीं चाहते, जानते हुये भी अनभिज्ञ रहना चाहते हैं । अब यह प्रश्न उठता है कि वे जानबूझ कर क्यों अनभिज्ञ रहना चाहते हैं जबकि उनके अन्दर ईश्वर प्राप्ति करने की तड़प है । कुछ सज्जन ऐसा कहते भी हैं कि हममें भक्ति भाव भी है, प्रेम भी है, तीव्र-व्याकुलता भी है, फिर भी ईश्वर प्राप्त नहीं होता । आखिर क्यों ? सिर्फ इसलिये कि उनका भक्तिभाव, उनका प्रेम उनकी तीव्र-व्याकुलता सब कुछ ढोंग है, ढकोसला है, दिखावा है । वास्तव में उनका ध्येय ही ईश्वर प्राप्ति का नहीं । उनका भक्तिभाव कोरा आदर्शवाद, वह भी ऐसा जिसमें

केवल जिह्वा को ही तनिक सा कष्ट देना होता है । यह कैसा आदर्शवाद है ? क्या कोई वास्तविक मानव इसकी अवहेलना के अलावा कुछ और कर सकता है ?

इस आदर्शवाद का भयंकर प्रभाव हुआ कि हम भक्ति को जिह्वा का करिश्मा और शारीरिक उछलकूद का प्रदर्शन समझ बैठे ।

भक्ति आन्तरिक है । अब आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि मैं यह कैसे कहती हूँ कि बाहरी वस्तुओं के द्वारा प्रदर्शन करने में भक्ति नहीं होती । इसका उत्तर बड़ा सरल है । जिस व्यक्ति में भक्ति inner होती है उसमें भक्तिकर्ता को यह भान ही नहीं रहता कि मैं भक्तिभाव से भी अनभिज्ञ होजाता और जब तक इसका भान या आभास रहे वह भक्ति कदापि नहीं और जो वेद-शास्त्री ऐसी भक्ति को शास्त्र वर्णित कहने का दावा करते हैं उनके लिये स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि 'वह शास्त्र जो ऐसी भक्ति को भक्ति कहते हैं शैतानकृत शास्त्र हैं ईश्वरकृत या देवकृत कदापि नहीं ।'

अब आप ही बताइये शास्त्र गलत हैं या विचारो, भावनाओं एवं आदर्शों को विकृत करके अनुसरण करने वाले व्यक्ति जो अपने साथ-साथ लोगों को भ्रष्ट कर इस ईश्वरीय जगत् में भ्रष्टता फैलाते हैं । इस देवकृत जगत् में नरभक्षी राक्षसरूपी कृत्कार्य करते हैं । ऐसे व्यक्तियों ने तौ ईश्वर को भी अपनी भावनाओं का खिलौना समझा है—जैसा चाहेंगे वैसा उस खिलौने से खेल खेलेंगे । इसका परिणाम यह होता है कि हम इन चक्करों में भटक-भटके घूमते हैं ।

आज जिस युग में हम रह रहे हैं उस युग में भक्ति सर्वोच्च आदर्श न होकर दुकानदारी हो गई है । यदि भगवान् से ऐसी प्रार्थना करना अनुमोदित हो तो प्रेम और दुकानदारी में अन्तर ही क्या रहा ? अतएव प्रेम का प्रधान लक्षण यह है कि उसमें खरीद विक्री नहीं होती । प्रेम सर्वदा दिया ही जाता है । प्रेम सदैव दाता ही रहता है वह कभी ग्रहीता नहीं बनता ।

प्रश्न यह उठता है कि वास्तविक भक्ति क्या है ? इसके लिये जरूरी है । होजाता है कि भक्ति के मूल में जो है । उसे हम समझें । भक्ति के मूल में वही है जो मानव जीवन के मूल में है ।

इस संसार जगत में आकर हमें किसी न किसीसे प्रेम तो करना ही होगा, किसी न किसी से तो मोहब्बत करनी ही होगी, किसी न किसी भक्ति करनी होगी क्योंकि यह प्रकृतिगत है। यह बात अलग है कि हम मानव से प्रेम करें या दानव से या ईश्वर से। धत्र चाहे कोई सा भी चुन ले; परन्तु स्वाभावतः प्रेम तो करना ही होगा। क्योंकि जब बच्चा जन्म लेता है तो वह रो-रो कर माँ का प्रेम जगाता है। 'जब तक बच्चा रोता नहीं माँ दूध नहीं देती' यानी यहीं पर से प्रेम का रिश्ता शुरू होजाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चे के रोने ने माता के हृदय के उस मर्मस्थल को छू दिया जहाँ प्रेम का वास है। फिर हम क्यों नहीं परमपिता से प्रेम करपाते जिसने हमारी आत्मा को जन्म दिया। जब हम माता से जिससे हमारा पहिले का कोई भी सम्बन्ध नहीं है उससे प्रेम करने लगते हैं तो क्या ईश्वर से हम प्रेम नहीं कर सकते। अब आप कह सकते हैं कि माता का प्रेम हमें प्राप्त होता है ईश्वर का नहीं। यह धारणा गलत है क्योंकि हम सदैव से जिसके वन्दे हैं यह सम्भव नहीं कि वह हमसे प्रेम न करे। भक्ति की असली हालत भी यही है जब वह (मालिक) हमें याद करने लगे—

“भेरा राम मुझे भजै, तब मैं पाऊँ विश्राम।” (कबीरदास जी)

यह सम्भव तब ही है जब पहिले हम राम (ईश्वर) को भजे और यह स्थिति पैदा कर लें कि 'प्रेमी प्रियतम बन जाये और प्रियतम खुद प्रेमी। पर यह हो कैसे? यह तभी होसकता है जबकि भक्ति और खुशामद में अन्तर स्पष्ट हो। बाबू जी महाराज का कहना है,

“खुशामद में गरज छिपी हुई है और भोंडों गरज। भक्ति में भी गरज होती है मगर उस गरज के बाद कोई गरज हो ही नहीं सकती और न ख्याल में आती है।”

वास्तव में होता क्या है? हम भक्ति की श्रेणी में पहुँच ही नहीं पाते और धोखे से प्रथम श्रेणी को ही अन्तिम श्रेणी समझ बैठते हैं अथवा अपनी पहुँच को चरम सीमा समझकर सदैव-सदैव के लिए उसी पर रुक जाते हैं, ठहर जाते हैं यानी कि हम खुशामद करते ही रह जाते हैं। उम्र बीत जाती है, जमाना बीत जाता है, जन्म बीत जाते हैं, परन्तु फिर भी कुछ हाथ नहीं लगता। आखिर क्यों? इसलिये कि हमारे अन्दर गरज का भाव बना रहता है। जिस गरज का श्री बाबू जी साहब ने जिक्र किया है वह गरज

गरज नहीं है। बाबू जी साहब ने एक स्थल पर लिखा है, “यदि आप निगाहें घौर से देखें, तो वास्तविक भक्ति के साथ पाई जाने वाली गरज वास्तव में गरज नहीं है। बल्कि यह तो अपने घर की याद है, जो बहुत दिनों तक सफर करते-करते आ ही जाती है। बुलबुल को अपने खोये हुये आशियाने का ख्याल जरूर आता है, भले ही वह कितना ही अपने ख्याल को गुल (फूल) में लगायें रखें। हम यदि अपना घर का ख्याल न रखें और वास्तविक ध्येय की याद में रहें तो यह सम्भव नहीं कि हम अपने असल ठिकाने की याद से ग्राफिल हो जायें। यह असल ठिकाना और कुछ नहीं, बल्कि वह ठिकाना है, इसके बाद ठिकाना ही नहीं रहता, जिसके बाद गरज ही नहीं रहती, इस गरज को गरज कहना वास्तव में गलती है।”

वह कौन सी हालत है जिसे प्रेमी अपने में पैदा करें।

आशकी चीस्त बिगो वन्दे जाना बूदन।

दिलवदस्ते दिगरे दादनो हैरां बूदन ॥

(कोई यह पूछे कि मोहब्बत और भक्ति क्या है तो यह कि जिससे प्रीतम की ब्योड़ी का गुलाम होजाये और अपने आप हैरान और परेशान फिरे।)

हम हैरान और परेशान नहीं रहना चाहते। हम तो अज्ञानता के कारण ईश्वर को भी खुशामद से सूद और व्याज लेने देने वाला बनिया समझ बैठे हैं।

असल में भक्ति या मोहब्बत वह चीज है जिससे इन्सान हर हालत पर पहुँच सकता है। बेचैनी और तड़प की हालत तक पहुँच सकता है। किसी ने ठीक ही कहा है:—

तमन्ना ददें-दिल की हो, तो कर सोहबत फ़कीरों की।

नहीं मिलता है ये गौहर शहनशाही खजानों में ॥

अब प्रश्न उठता है कि हम कौन सा तरीका अख्तियार करे कि हममें बेचैनी और तड़प मालिक की याद में पैदा हो जाये।

आप जानते हैं कि जब हमारा कोई सगा सम्बन्धी घर से बाहर चला जाता है तो उसकी हमें बार-बार याद आती है और जब किसी से हम रोज-रोज मिलते हैं और रोज के लगाव का रिश्ता कर लेते हैं तो हममें मोहब्बत पैदा होजाती है यानी बार-बार याद करने से भी मोहब्बत पैदा होती है।

अब अगर हम प्रयत्न द्वारा बार-बार ईश्वर को याद करें तो यह हमारा स्वभाव बन जायेगा और फिर हमें बिना याद किये हुये उसकी याद आयगी । अब काम बन गया । सहज मार्ग के अन्तर्गत अभ्यासी को Constant Remembrance करने को बताया जाता है क्योंकि भक्ति के माने हैं 'Inner attachment with the real being' और यह लगाव 'सतत् स्मरण' के बिना पैदा नहीं होसकता, जब तक कि हम पर ईश्वर की विशेष कृपा न हो ।

धीरे-धीरे अभ्यास के कारण हमारा अन्तर का लगाव बढ़ने लगता है और तबियत में बेईस्तयारी (बेचैनी) पैदा होने लगती है और जब यह प्रारम्भ हो जाय तो वास्तविक भक्ति प्रारम्भ होगई । डा० इकबाल ने उचित ही कहा है—

सर रहे इक्षितयार में, सजदा वो सजदा ही नहीं ।
वन्दगी और वक़दे होश कुफ़ है वन्दगी नहीं ॥

एक बार बादशाह अकबर शिकार ग़ाह में मौजूद था । नमाज़ का वक़्त आया नमाज़ का बिछौना बिछाया गया और वह नमाज़ पढ़ने लगा । हुस्ने इत्ताफ़ाक से एक औरत उधर से निकली । वह शाही मुसल्लह (नमाज़ का बिछौना) रौंदती हुई वहाँ से चली गई । बादशाह को यह बात बड़ी नागवार हुई मगर चूँकि नियत बांध चुका था जिसका तोड़ना मुनासिब न था कुछ न कहा । नमाज़ से जब फारिग हुआ तो वह औरत फिर वहाँ से गुजरी । बादशाह ने कहा, "तू कैसी नादान औरत है कि तूने नमाज़ के वक़्त एक बादशाह का मुसल्लह रौंद डाला और तुझे खतरे का ख्याल पैदा न हुआ ?" उसने जबाव दिया कि मैं अपने यार से मिलने के लिये इस कदर बेचैन थी कि मुझे यह खबर न हुई कि बादशाह का मुसल्लह बिछा हुआ है और वह इस वक़्त नमाज़ में हैं । मेरा सांसारिक प्रेम में जब यह हाल था तो ताज्जुब है कि तुझको यह खबर कैसे होगई जब कि तू हकीकत (वास्तविक तत्व) के लिए सिज़दे में सिर भुकाये हुये था ।"

सहजमार्ग के अन्तर्गत बड़ी सरलता से भक्ति उत्पन्न होती है क्योंकि हम सतत् याद से लगाव कायम करते हैं और प्राणहृति (Transmission) के द्वारा गुरु रास्ते की बाधाओं को हटाता जाता है । उसूल नं० २ देखिये—

"पूजा प्रार्थना से आरम्भ की जावे । प्रार्थना आत्मिक उन्नति के लिए होना चाहिये और इस तरह की जावे कि हृदय प्रेम से भर आवे ।"

जब हम नियम का रोज़ पालन करेंगे तो प्रेम निश्चित रूप से पैदा हो जायेगा । अब रही बेचैनी की बात तो ग्राम उसूल नं० ३ देखें—

प्रत्येक भाई को चाहिए कि अपना ध्येय निश्चित कर ले और और वह यह कि ईश्वर तक पहुँच कर उसमें लय अवस्था प्राप्त करके पूर्ण स्थिति प्राप्त कर लें और जब तक यह बात प्राप्त न हो जावे चैन न आवे ।"

अब इस नियम क पालन से बेचैनी भी पैदा करली । आगे चलकर यह बेकारी आत्म समर्पण (Self Surrender) करा देती है और हम मालिक पर (depend) करने लगते हैं । मालिक पर dependency पैदा होना ही वास्तविक devotion है । फिर भक्तिमयी मीरा की तरह हमारा हृदय बोल उठता है—

"जहँ वैठारें तित ही बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ ।"

सहज मार्ग साधना का अभ्यास कर आप स्वयं कह उठेंगे—

हक़ नाहक़ में छुपा था, मुझे माज़ूम न था ।
चाँद बदली में छुपा था मुझे माज़ूम न था ॥

वास्तव में वैराग्य की असली भावना तभी उत्पन्न होती है और उसका असर धिर स्थाई तभी होसकता है जब पूरी तरह आन्तरिक सफ़ाई हो और उचित सन्तुलन हो ।

जीवन मोक्ष की दशा उस वक़्त तक नहीं प्राप्त होसकती जब तक गुलाभीका तौक़ हृदय गले में पड़ा हुआ है ।

वास्तविकता की प्राप्ति में सफलता पाने के लिये सबसे महत्वपूर्ण गुण अपनी योग्यता और शक्ति में विश्वास है ।

मेरे मालिक ! शत शत प्रणाम ।
 मन हर्षित, पुलकित रोम रोम, सीतापुर आये आज राम ॥
 अनगिन तारों की दीप्ति, कोटि
 ऊषाओं का सिंगार मन हर,
 ऋतु राजों का कोमल सौरभ,
 पुरबी बयार का नशा अमर,
 धरती का धीरज, भँभायें, लेते तव चरणों में विराम ।
 मुट्ठी भर तन, फूलों सा मन,
 ओ तड़प-तड़ित-मम पावन घन,
 निबन्ध प्रेम से अनुरञ्जित,
 देवत्व बनाते जन - जीवन,
 ओ सुभग चरण ! कर तुम्हें वरण, कोई क्यों रहे अपूर्ण-काम ।
 हे तपः पूत ! हे मुक्ति - दूत !
 हे भुग-सृष्टा ! हे अविनश्वर !
 हे शक्ति - पात के नव उद्दाम !
 हे सहज - मार्ग के पैगम्बर !
 अनुराग पूर्ण हे बैरागी ! देही विदेह ! सर्वज्ञ राम !
 अध्यात्मवाद के कलाकार !
 दोनो दुनिया के ताजदार !
 तुम सा क्या होगा बार बार,
 तुम हो ईश्वर के शाहकार,
 हे कोटि-नेत्र ! हे कोटि चरण ! युग युग के तुमको शत प्रणाम ।
 निस्तब्ध 'शब्द' को मुखरित कर,
 अंतस में 'सुरत' प्रतिष्ठित कर,
 सन्तुलित वृत्तियाँ, प्रज्ञा दे,
 नर को कर देते हो अक्षर,
 मानव को जो कर दे विराट, वह निश्चय ही ईश्वर समान ।
 तुम सहज-मार्ग पर बाँह पकड़,
 ले चलो गिरें बन्धन कट कर,
 वीरानों में उड़ पंख थके,
 अब संध्या को जाना निज घर,
 यह सजल प्राण, रस - भीना मन तुमको अर्पित मेरे अनाम !

श्रीरामाप्त डींगर सीतापुर

मनुष्य दूसरे पशुओं पर अपनी प्रधानता के बारे में प्रायः पूर्ण रूप से संतुष्ट है । पर शायद इस प्रधानता का कारण सभी नहीं जानते हैं और अगर जानते हैं तो मानते नहीं हैं । नकल ने मनुष्य को नकली बना डाला है । ग्रीसत आदमी का जीवन स्तर पशु से थोड़ा ही भिन्न होता है— वह पैदा होता है, बढ़ता है, बच्चे होते हैं, बूढ़ा होता और मर जाता है । किस-प्रकार यह जानवर के जीवन से भिन्न है ? यह सत्य है कि उसके पास बोलने की शक्ति होती है, पर यह तोते के पास भी होती है । क्या केवल बोलना ही उसे श्रेष्ठ बना देता है । सभी जानवर अपनी २ बोली बोलते हैं !

वास्तव में मनुष्य का जीवन लक्ष्य उसे पशु से भिन्नता प्रदान करता है । बिना ऐसे लक्ष्य के मनुष्य केवल पशु है, समभाव्यतया श्रेष्ठ, कि वह ऐसा लक्ष्य सोचने योग्य है । पर सच में वह पशु ही है अगर ऐसा विचार नहीं करता ।

मनुष्य जीवन का लक्ष्य क्या हो ? यह एक भयंकर भ्रमजाल है जिस में मनुष्य फस कर दिन प्रति दिन निराश और हताश होकर पशु स्तर का जीवन बिताने के साथ समझौता करता जा रहा है । यह एक बड़े संकट का द्योतक है । सभी युगों में मनुष्य, जीवन लक्ष्य के विषय में बड़ा निश्चित था पर इस युग में मनुष्य एक निश्चित लक्ष्य के अभाव में दिशा हीन जीवन बिता रहा है ।

जीवन लक्ष्य को लेकर तरह-तरह की धारणायें मनुष्य में उठती हैं । स्वास्थ्य को अगर वह जीवन लक्ष्य माने तो उसे भी अन्त में नष्ट होना है । धन, सत्य है कि मृत्यु पर्यन्त उसके पास रहेगा पर वह भी पीछे ही छूट जायेगा तब तो यह वास्तविक लक्ष्य नहीं हो सकता ।

शक्ति पर अधिकार हमें आकर्षित करता है पर हम क्यों भूल जाते हैं कि यह आग और पानी में भी है और सभी प्रकार के जड़ पदार्थों में शक्ति होती है । केवल शक्ति पर अधिकार होना ही लक्ष्य नहीं हो सकता क्यों कि इसे किसी दूसरे लक्ष्य के लिये लगाना होगा ।

सुख भी लक्ष्य नहीं हो सकता क्यों कि हम जितना इसे खोजेंगे उतना ही हम से दूर हो जायेगा । अगर बच्चों, का होना वह लक्ष्य माने तो बच्चों का क्या लक्ष्य होगा — और बच्चे । इस प्रकार यह क्रम चलता रहेगा मनुष्य भ्रमजाल से छुटकारा नहीं पा सकता !

आज मनुष्य तत्काल कह देता है कि देश सेवा उसका जीवन लक्ष्य है । पर देश से हमारा तात्पर्य क्या है? भूमि से है तो वह एक जड़ पदार्थ है । अगर जन से है तो वे भी मरेंगे । भूमि तो भूमि है ही मनुष्य के सामने प्रश्न बना ही रहता है ।

मानव सेवा इस युग में एक चर्चा का विषय बन गई है अर्थात् इसे ही लक्ष्य मान लें । क्यों कि मानव सेवा एक उच्च आदर्श है । पर क्या यह लक्ष्य पूर्ण रूप से संतोष जनक है ? मेरा उत्तर है नहीं क्यों कि चींटी और ममाखी अपनी जाति सेवा में ही संलग्न रहती है फिर भी हम उन्हें आदर्श जीव नहीं मानते हैं । फिर यह लक्ष्य हमारी श्रेष्ठता कदापि नहीं सिद्ध करेगी ।

कुछ विचार शील व्यक्ति मुक्ति को जीवन लक्ष्य मानते हैं । इस का कारण यह है कि संसार उनके अनुसार, दुख का भण्डार है और दुख का कारण वे इच्छाओं को मानते हैं । तभी वे दुख निरोध और इन्द्रिय दमन को जीवन लक्ष्य मान कर बैठ जाते हैं । पर क्या यह अपने में काफी है ? मैं समझता हूँ कि मुक्ति (Salvation) हमारी समस्या का हल नहीं हो सकती । यह बात अलग है कि कुछ समय या काल के लिये हमारी समस्या टल जरूर जाती है। जैसा कि हमारे परम पूज्य गुरु देव बाबू जी महाराज ने अपनी पुस्तक “सत्य का उदय” में लिखा है —

“मुक्ति (salvation) में जन्म और मरण के चक्र की गति थोड़ी देर के लिये स्थगित हो जाती है और उसके बाद हम पुनः स्थूल रूप ग्रहण कर लेते हैं ।”

मुक्ति क्रम का स्थगन मात्र है उसका अन्त नहीं है । अतः दुख का अन्त नहीं होता केवल स्थगन होता है । अतः यह भी हमारा वास्तविक लक्ष्य नहीं हो सकता

यहतो सभी मानते हैं कि बंधन युक्त व्यक्ति कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकता । पर स्वतंत्रता अपने में स्वयं एक प्रकार का बंधन है । हमें यह मानना ही होगा क्यों कि यह एक सत्य है, कि स्वतंत्रता प्राप्त परम लक्ष्य नहीं हो सकता अपितु बहुत से लोगो ने इसे ही परम लक्ष्य माना है । सत्य तो यह है कि स्वतंत्रता परम लक्ष्य का साधन मात्र है । स्वतंत्रता हमेशा किसी दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है ।

“Dr. K. C. Varadachari ने अपनी पुस्तक—Sahaj Marg— Shri Ram-Chandra's (New Darshan)” में लिखा है —” Freedom itself does not become the goal of man though this has been affirmed by most”.

पर हमें स्वतंत्रता तो प्राप्त करना ही है क्योंकि इस के अभाव में हमें कुछ भी आगे प्राप्त नहीं हो सकता । बाबू जी साहब ने स्पष्ट शब्दों में “सत्य का उदय” में लिखा है “बंधन से छुटकारा पाना ही मोक्ष (Liberation) है --- पुनर्जन्म का अनन्त चक्र तभी स्थिर हो जाता है जब हम इस से पूर्ण हो जाते हैं । यही हमारी आपत्तियों का अन्त - - - - मोक्ष अध्यात्म मार्ग की पहली सीढ़ी है ।”

अब अगर हम पहली सीढ़ी को भी अपना लक्ष्य नहीं मानते तो बेकार ही हैं । बहुत से ऐसे हैं जो मोक्ष को लक्ष्य मान कर चलते हैं फिर भी भ्रमजाल में पड़े रहते हैं । क्यों कि वह ऐसा लक्ष्य बनाते ही धर्म ग्रन्थों को उलटना प्रारम्भ कर देते हैं । और उनकी शरण में जाना ही अपना परम धर्म मान कर बैठ जाते हैं । मैं धर्म ग्रन्थों की महत्ता कम करने की न तो चेष्टा कर रहा हूँ और न ही मुझ में ऐसा करने की योग्यता और साहस है । हमारे धर्म ग्रन्थ ज्ञान के भण्डार हैं । पर यह विचार कि ग्रन्थों में लिखी बात ही ज्ञान है मुझे बड़ी अजीब लगती है और मैं इसे मानने को तैयार भी नहीं हूँ और नाही कोई विवेक शील व्यक्ति ही इसे माने गा । ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा रहता है । उन में परस्पर विरोधी विचार भी रहते हैं । लिखे हुए का महत्व पढ़ने वाले के अपने विचारों पर निर्भर करता है और उसके विचार उसके अपने अनुभव पर आधारित होते हैं । यही कारण है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में अनुभव महत्व पूर्ण है । इसी विषय करना और जानना मूल मंत्र है ! यह असम्भव है कि अनुभव के आधार पर लिखे हुए ग्रन्थों को हम वास्तविक अनुभव के अभाव में समझ सकें हम उनके अर्थ अपनी क्षमता भर ही लगायेंगे । यही कारण है किसी ग्रन्थ की किसी बात को बिना अनुभव के हम पकड़ लेते हैं और उसी के द्वारा हम साक्षात्कार (Realization) चाहते हैं । यही हमारी भारी भूल है । तभी तो हमारा जीवन बीत जाता है और हम कोटू के बेल की तरह वही के वही चक्कर काटते भ्रमजाल में फंसे रहते हैं । यही पर प्रश्न उठता है कि मनुष्य क्या करे ? क्या वह ग्रन्थों को तिलांजलि दे दे नहीं ऐसा हमें नहीं करना है । ग्रन्थो को हमें सोच समझ कर उपयोग में लाना ही होगा अन्यथा हम अपने मानस को खोखली धारणों से भर देंगे और हाथ कुछ भी न लगेगा ।

सत्य हम में ही है । क्यों कि समस्त ब्रह्माण्ड मनुष्य मे केन्द्रित है । बाबू जी साहब ने एक स्थल पर लिखा है “Man is the epitome of universe” (“मनुष्य सम्पूर्ण जगत का एक संक्षेप संग्रह है”) जब ऐसा है तब यह भी निश्चित है कि इसे जानने के लिये हमें प्रयोगात्मक बनना होगा । और इसके लिये आध्यात्मिक जीवन आवश्यक है और इस जीवन के लिये अभ्यासिक अनुभव जरूरी हैं । जो ग्रन्थों से हमें नहीं प्राप्त हो सकता और न यह ग्रन्थ हमारे शिक्षक हो सकते हैं । केवल धर्म ग्रन्थो के सहारे चलने वाला व्यक्ति यात्रा की उलटी गति को प्रगति समझ बैठता है ।

अतः हमारी समस्या भ्रमजाल से छुटकारा - अनुभव शक्ति की प्राप्ति पर ही हो सकती है । जैसा कि बाबू जी ने एक स्थल पर लिखा —

“The question ends when one acquires Anubhava Shakti of finest type and can himself realize the true state of life here-after”

जहाँ तक लक्ष्य का प्रश्न है वह सब से उच्च होना ही चाहिये। मनुष्य की सब से ऊँची पहुँच कहां तक हो सकती है। वह केवल वही स्थान हो सकता है जहाँ हमें अन्त में पहुँचना है। हमारा लक्ष्य अनन्त और असीम होना चाहिये। वह क्या है? भूमा तक पहुँचना उपनिषद में लिखा है !

जो भूमा अथवा अनन्त है वही सुख है
सान्त और समीप में सुख नहीं है।

इस चरम लक्ष्य के बारे में बाबू जी साहेब ने अपनी पुस्तक "सत्य का उदय" में लिखा है:—

"मनुष्य की पहुँच का चरम बिन्दु जहाँ पर है वहाँ सब प्रकार का वेग शक्ति क्रिया यहाँ तक कि प्रेरणा भी अदृश्य हो जाती है और व्यक्ति पूर्णतया अभाव की स्थिति में पहुँच जाता है मनुष्य की गति का यही चरम बिन्दु अथवा जीवन का लक्ष्य है"।

इस लक्ष्य की प्राप्ति कैसे हो? अनुभव शक्ति के द्वारा पर वह कैसे प्राप्त हो? योगाम्यास के द्वारा ही यह संभव है। ग्रन्थों के पाठ से नहीं। उन्हें पढ़ कर चिंतन कर हम Philosopher बन सकते हैं पर योगी नहीं बन सकते। योगी बनने के लिये तो योगाम्यास करना ही होगा ऐसे की देख रेख में जिस ने स्वयं योगी प्राप्त कर लिया हो।

आज के जीवन की जटिलता के कारण मनुष्य सरल एवं सहज साधना ही करना चाहता है। मनुष्य को भ्रमजाल से छुटकारा प्रारम्भ से जीवन लक्ष्य और सहज साधना ही दिला सकती है। सहज मार्ग— में प्रारम्भ से ही भ्रमजाल छुटजाता। क्यों कि हमारी प्रार्थना की पहली पंक्ति है—

"हे नाथ तू ही मनुष्य जीवन का ध्येय है",

इस सम्बन्ध में सहज मार्ग का सिद्धान्त न० ३ स्पष्ट है !

"प्रत्येक भाई को चाहिये कि अपना ध्येय अवश्य निश्चित करले, और वह यह कि ईश्वर तक पहुँचकर उस में अपनी लय अवस्था प्राप्त करके पूर्ण स्थिति प्राप्त करले, और जब तक यह बात प्राप्त न हो जावे, चैन न आवे"।

सहज—मार्ग में हम प्रारम्भ से ही अपना विचार लक्ष्य पर केन्द्रित कर देते हैं और हमारी बेचैनी हमें लक्ष्य से भटकने नहीं देती भ्रमजाल को स्थान ही नहीं मिलता, साथ ही गुरु अपनी परम पावन प्राणाहुति शक्ति द्वारा हमारे मानस को संतुलित करता चलता है। हमें केवल ध्यान के साधन से ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

सहज-मार्ग की युगानुकूलता

(श्री राजेश्वरी प्रसाद श्रीवास्तव का सीतापुर उत्सव में दिया हुआ भाषण)

परमश्रद्धेय "बाबूजी महाराज" एवं बन्धुवर माताओं तथा बहनों !

आज संसार ने अपना वह आधार खो दिया है जो उसे धर्म प्रदान करता था और मानव जीवन विभिन्न दिशाओं में टक्करें खा रहा है।

मानव - मन सदा स्वच्छन्द रहना चाहता है। स्वच्छन्दता उच्छ्वलता की जन्मदायिनी होती है क्योंकि उसमें मनानुकूलता की तीव्र भावना भरी होती है। फलतः हमारे समस्त कार्यकलाप अस्त-व्यस्त हो जाते हैं और प्रगति अवरुद्ध रहती है। जीवन की प्रगति स्वच्छन्दता से नहीं संयम, नियन्त्रण और अनुशासन से होती है। यह व्यवस्था समाज की नाना संस्थायें ही पूरी करती हैं। अतः कोई संस्था जब बनती है तो युग विशेष की छाप उसमें अवश्य रहती है। इनका उद्देश्य जीवन को सही दिशा में मोड़ने का होता है।

ऐतिहासिक स्तर पर जब हम देखते हैं तो ज्ञात होता है कि आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व इस पूर्व छठी सदी में ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न हुई थी। जैन संघ और बौद्ध संघ की स्थापना करके महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध ने जन-जीवन को सुधारा और सही दिशा में मोड़ा, जो उस समय के अनुकूल था।

जब हम अपने आधुनिक समाज को देखते हैं तो यही लगता है कि हम धर्म से अधर्म की ओर बढ़ते जा रहे हैं। हमारी संस्थायें, हमारे व्यवहार, मान्यतायें, जीवनोद्योग क लक्ष्य सभी अस्त-व्यस्त हो रहे हैं। चारों ओर अज्ञान और असन्तोष व्याप्त हो रहा है। यह गड़बड़ी इसीलिए है कि हमने स्वार्थों में पड़कर जीवन के सन्तुलन को बिगाड़ लिया है। विज्ञान ने तो इसमें और भी अस्त-व्यस्तता ला दी है। वास्तविकता यह है कि हम एक निर्यति कालिक संक्रमण के मध्य से होकर चल रहे हैं। इसमें नसर्गिक परिवर्तन की तैयारी हो रही है। एक नया संगठन आने वाला है। हमें नहीं पुरा संसार अपना पुराना लिवास उतार कर फेंक रहा है और नया धारण करता जा रहा है। यही कारण है कि पुरानी संस्थायें असफल हो रही हैं। हमारी आज की सबसे बड़ी बिड़म्बना यही है। यहाँ पर एक उदाहरण उपयोगी होगा।

जब एक मोटर एक कारखाने से निकलती है तो वह आकर्षक और सुचारु होती है। पास से निकल जाती है और पता भी नहीं चल पाता है। वही मोटर कालान्तर में जब चलती है तो दूर में ही उसके आने का शोर सुनाई पड़ने लगता है। कारण चलते-चलते धिसन, टूटन-फूटन होती रहती है। अन्त में मोटर का आडम्बर तो रह जाता है। पर उसकी सुचारुता गतिशीलता, आकर्षकता का लोप होजाता है। आज यही दशा हमारी संस्थाओं और पद्धतियों की होरही है।

ऊपरी कही हुई दशाओं को सुधारने के लिये महान् विभूतियाँ समय-समय पर आती रही हैं। इनका मुख्य कार्य यही होता है कि पुराने पन और नये पन में सन्तुलन बना रहे। भगवान् कृष्ण, महात्मा बुद्ध और Christ ने यही किया है।

यदि हम ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि "सहज-मार्ग" का उद्देश्य इससे भिन्न नहीं। आज हम घोर भौतिकवाद की भाग-दौड़ में पड़े हैं। हमारी नैतिक पृष्ठ-भूमि लुप्त होती जा रही है। यही समझने और हमें सत्य पर लाने का कार्यभार लेकर "सहज-मार्ग" अपनी विशाल भुजायें उठाकर अग्रसर हो पड़ा है।

आज के युग में सन्तुलन (moderation) बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि वर्तमान युग सन्धिकाल का युग है। इस सम्बन्ध में पूज्य बाबू जी महाराज ने कहा है:-

"Moderation is a charactersitic of nature. If we gain complete moderation we are in a way in conformity with nature and it is the very essence of Spirituality."

"सन्तुलन प्रकृति की एक विशेषता है। यदि हम पूर्ण सन्तुलन प्राप्त कर लें तो हम एक प्रकार से प्रकृति के अनुरूप बन जाते हैं और यही आध्यात्मिकता का सार है।"

गहराइयों में न जाकर मैं केवल यही कहूँगा सहज-मार्ग साधना प्रणाली युगानुकूल है और उसकी यही विशेषता है कि सहज-मार्ग वर्तमान जीवन की बदली हुई दशाओं के अनुकूल राजयोग का परिवर्तित और परिवर्धित रूप हमारे मध्य प्रस्तुत करता है। आध्यात्मिकता के सहारे यह हमारे जीवन में सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करता है।



Nature's Workshop

(Shri Ram Chandraji, President.)

The world is a living image of God in which his power is working all through. The huge workshop of Nature, is fitted with all the necessary equipment needed for the work. The power is running from the centre to keep the machines in motion. There is a separate set of machine for each type of work. The power is rolling on but without any awareness of its intention, purpose or events, giving out finally the prescribed results in a routine way. It does not mind any intrusion, obstruction or accident that might happen to come in the way from any outside cause or by the effect of defective working of any of its parts. For efficient working of the machinery it is therefore essential that all its parts are in order and that none of them is loose or defective. For this, there are subordinate functionaries at work in the capacity of mistris, supervisors and controllers. Their duty is to look to the proper regulation and adjustment of the activities of the individual parts. Who these functioneries may be? One might say that they must be gods & goddesses. Certainly not. Gods and goddesses are in fact the various powers of Nature, hence like the different parts of the machine. They go on with their set routine of work irrespective of every thing else and they

have not the capacity to go even an inch beyond. The real functionary, at the root is the 'man'. It is he who has to look to the proper regulation of the Nature's machinery and to maintain right functioning of its parts. It may be surprising to some but it is fact beyond doubt.

Man is the Nature's instrument. It possesses immense power and has also the implements required for the utilisation of that power. That wonderful implement is the mind and it is exclusively the possession of man. Even gods who are thought to be the objects of worship do not have mind. The animals however are said to be possessing mind but it is of a different nature. It is, so to say, in an inert state in comparison to a man's mind which is full of life and activity. The mind owes its origin to the first Stir which came into effect by the will of God to bring into existence the creation. Such being the true nature of the human mind, it is highly incredible on the part of these Pseudo-Mahatmas to rail upon it in the bitterest terms, proclaiming it as the worst enemy of man. They do not take into understanding its real value and merit.

In fact it is the only instrument for bringing things into action. It is the same Divine force which descended down in the form of Chhobha. It is the same power in a miniature form which has now brought into existence the tiny creation of man. It is the same power, which is in action at the root of everything. Now whose power it is, whether of God or of Man? The answer is simple. It is definitely of man because God possesses no mind. If he had it, he would also have been subject to the effect of Sanskarams. It must therefore be the human mind that works at the root. Now about the man's mind we hear a good deal of its evils, but all that may be

in refrence to its present state of degeneration. Really we have spoiled the mind so much that it's true nature seems to be almost lost and it has therefore become a source of constant trouble to us. As such instead of helping the proper working of the Nature's machinery it serves only for an obstruction or impediment. Thus we arrive at the conclusion that mind which is generally thought to be the cause of all evil, is also the only cure of it if handled properly.

Almost the whole world believes that at times when the world has gone down into utter degradation, special personalities in the form of saints, prophets, Avtaras or incarnations come down to earth to free it from the evil influence caused by the misdirected trend of the human mind. Thus the nature's work, can be accomlishe only through the medium of some super-human personalty appearing in the human form, because he is in possession of the mind which is the only instrument to bring things into action. But the mind he possesses is in its absolute state, almost akin to the Divine Power in the form of Chhobha.

As a matter of fact, the mind and the Maya are the only two things upon which the entire working of the Nature's machinery rests but which are so grossly misrepresented by the neophytes. They do not know that these are the two main factors which enable us to secure approach upto the Divine. Actually the existence has, for its one end, the Mind, and for the other the Maya, Both linked together, serve for a barge for our journey to the shore of the Ocean of Reality. People may wonder to hear me talk of the ocean whereas every one has so far been led to think of remaining merged, in Reality for ever. This is the point which is not sufficiently cleared even in the scriptures. The Reality may be represented

as a sphere which one has to pass through during the course of his march. After landing on the other side we have to march on still. How far? None can determine precisely. The very word shore brings to our mind the idea of a vast expanse for which the shore is only a marginal line. How far this sphere extends is beyond imagination. We have been sailing so for thorough the ocean. But while in the barge we had a very pleasant journey, enjoying the cool morning breeze and the refreshing effect of water. This seemed to be so tempting that every one would like to have such a pleasure trip. It offered him a sort of satisfaction, emotional joy and in a way something like the peace of mind and it came to be known as Anandam.

We have now embarked upon the dreary shore. The freshness of the water is gone. There is no pleasant breeze, nor the ripples, exciting emotion. There is no charm, no attraction, no enjoyment, nothing but a dreary waste, devoid of every thing. That is also a source of Anandam but of a different type. In order to differentiate it from the previous one I may call it as Anandam-absolute. It is constant, unchanging and real, without any rise or pitch.

Proceeding on through this infinite expanse one must in due course arrive at a point which is the point of Man's origin and which has been unattainable even to Avatars. The real state of Anandam is then brought to light and this being beyond words can not be expressed in any way. It can only be realised and experienced in a practical way. One having reached upto it feels himself lost. But that being the secret of Nature is revealed only to him who is one with Nature.

Now one, on the path, proceeds along, utilising all the resources at his disposal. He possesses mind and the Indriyas which are to be devoted to service. Service may be taken as the

stepping stone towards devotion. But it is by no means all and sufficient. Service refers to the action of the physical body including the Indriyas. But there is the mind as well in the background, and the same thing must also be there in it. One might say that the actions of the body are all subject to the activity of mind. So when the body is engaged in service the mind must also be with it. That is not my sense, I mean that if it is actuated by the feeling of love and sympathy, the action shall be alright otherwise it shall only be formal and associated with some selfish motive. In that case the result will be quite reverse. Our primary motive is to develop devotion and for that service is only a means. We serve in the real sense only when our motive is sincere and honest. It carries with it a sense of duty as well as of love, both being inseparable from each other.

There may be others who though they do not seem to be active for the service have in their heart tender feeling for others. That may also be good to some extent at least though they can be said to be walking only with one leg. I do not mean to refer to those higher souls who are firmly established in the Divine and entertain in their heart no thought but of Him. Such may be rare, very rare, indeed and there remains nothing in them undone by way of duty. They with a heart rent asunder with the intensity of love are themselves unaware of it and are not in a position to decide what to do or not. But after having attained that final stage they have also to revert to it though in a somewhat different way. Their services at the time are beyond conscious knowledge and the idea of service too seems to be out of the mind. The whole action becomes automatic and spontaneous without any conscious thought or effort.

For the attainment of that highest stage it is necessary for one to make the voice of his heart audible at the Base. How can it be accomplished? The simple answer would be to secure as much

nearness as possible. How can that be attained? For that there is nothing but practice and Abhyas. The only effective way to attach one's self firmly to the Abhyas is, to link himself with the Unlimited or in other words with one who having linked himself with the Unlimited has attained the state of perfection. When you have linked yourself thus it means that the great personality has taken you in the bosom of his heart. Your effort towards going deep into it means you have taken up the path towards the Ultimate. That is what the word surrender conveys and which is the only surest path for the attainment of complete perfection. So long as you do a thing and know that you are doing it, it is not the right course and you are away from the level of surrender, because the feeling of ego is also there. Surrender is free from any conscious idea of ego. Every thing there goes on in an automatic way according to the need of the moment without any previous or after thought.

But greatest precaution is to be observed in this respect. Surrender to one who is not upto the mark or has not reached upto the final limit of perfection is highly detrimental to our ultimate purpose. But at the same time it is very difficult to judge and decide whether one is really so or not. That is a matter of luck which is subject to the effects of Sanskaras. Prayer also can be of help in this respect for thereby alone you can create ripples in waves of Nature. The reaction of it shall be automatic and the solution will come by itself.

—(* ** *)—

Self Culture and Sahaj Marg

Shri Vijayarangachari

Man has always been a paradox and shall continue to be for ever. This is because he is a strange mixture of the 'animal,' the 'human' and the 'divine'. He is not any one entity at a given period nor even in the course of a day. He shuttles backward and forward from one end to the other, with such amazing variance that it has almost become fashion to say that man is unpredictable. Benjamin Franklin, indeed, wondered: "Look around the habitable world, how few know their own good or knowing it pursue"

As an animal, man is nearly bound within the limits of his biological necessities. A greater part of his activity is confined to the necessities of self-preservation and preservation of his race. His resources, his knowledge; his altruism, his emotion, such of these as may exist in the animal stage, are all but absorbed in a mere endeavour to live. To live, to propagate his race, and to die, is his end. And he is content. He never cries for salvation. He does not seek a release from the limits of his life. He never feels stifled for his breath and knock with all his force against the boundary walls of his world. He never knows the joy of seeking entrance into the realm of blessedness.

But as a human being, man moves from the animal world of 'necessity' to the human world of 'purpose' and 'Personality'. He is now upon his career of 'creative' life. He is released from the Law of Natural Selection where he had allowed nature to choose him and choose for him. He is promoted to a world of his own choice. Here he earns a lot more than he is compelled to spend. He acquires a Surplus of knowing from where he can

proudly assert knowledge for the sake of knowledge. His goodness is not now a small pittance barely sufficient for a hand-to-mouth moral existence. He can amply afford to say that goodness is for the sake of goodness. He refuses to behave as if he must follow the arrangement of nature which had not his consent. He wants explanation for the working of the senses and emotions. He wants explanation for the physical body and the forms he sees around him in a galaxy of colour and shape. He wants explanation how the mind works and with what potency it functions. He chafes against the humiliation of bending his neck to physical necessities. He does not reconcile himself to accept the limitation of nature as absolute.

Why should man in this physical and moral world attempt impossibilities that stagger imagination and in spite of repeated disappointments never accept defeat? Because he is evolving into the divine stage. He is passing from the human world of purpose and personality to the larger world of 'spirit' and 'freedom'. He has found that the human world was not his final world and unless he and another world his groping for the find must be a meaning-less torment. Here he seeks to free himself from selfish desire, from the narrowness of race and nationality, and from the fear of man and the bondage of creed and convention. He receives in his breast all the hurts of world to prove that the life of the spirit is the real life. He carries in himself the deathless life of all humanity. He begins to seek the source of all life, the one reality, the fundamental substratum. He begins to seek God, the one single goal, which can explain not only the poverty of the poor, but the richness of the rich and the might of the powerful. In short, he wants to turn the key, open the doors and enter the Temple of Truth.

This happens when man's intellect is freed from the bondage of his interests in both the animal and human roles. He then

discovers the infinity with which he must be in harmony fully to satisfy his quest for the higher in the moral world. In his relationship with a higher purpose, things which held no charm to him hitherto assume an ethereal beauty and he becomes more in his union with others, not merely as a fact of arithmetic nor like adding to the horse power of an engine but as an enfoldment as it were. The realisation which was imperfect before has now perfection in truth and, therefore, in Joy. What was meaningless when unrelated finds its full meaning in relationship. This perfection is a whole which transcends all its parts. It leads him into a mystery which is in the heart of things, yet beyond it, like the sense of humanity itself which cannot be contained in mere gregariousness.

The ground covered in the foregoing analysis makes for the proper canvas on which to have a picture of self-culture and seek blue print for a progressive outlook. Put in other way: in our physical touch with the world we work for the biologic needs of hunger and thirst. Our mental culture reaches the sphere of labour which we apply in finding the one unifying principle to signify the heterogeneity of things. Then we are in personal touch with the world where rising above the needs of mind and body, above the expedient and useful, we court the field of culture to fulfil our needs of love. we have further on the life where we feel and deal with our emotions whose mystery is endless because we can neither measure nor analyse it. And beyond the gross and numerous, but still the more real, yonder the limits of utility and self-expression-parallel lines which however tend to meet and mingle—we have the acme of self-culture, Simplicity, in which all that we prize must lie—**Truth, Power and Beauty. And Simplicity is not only the seal of Truth, not only the badge of Self-culture, but also the Central theme of Sahaj Marga.** This is why sages believing in spiritual life and anxious to realise the truth

have tried to make their lives pure and simple with one pointed sadhana. It is said in scripture that cultured intellect moves in determinate direction, that the resolute are single minded, while the thoughts of others are ever endless and confounded.

The single pronged urge of self culture is therefore for the realisation of the supreme. Sahaj Marga advises that one should have the highest goal kept in his view, indeed, 'complete oneness with God', and that one should not rest content until the goal is reached. Hungering and thirsting for the supreme is the essence of self-culture and the various means adopted to reach the goal constitute the different processes to it, the Sahaj Marga.

Few realise that a harmonious way of living, of due care of the family, of proper discharge of duties and responsibilities of life, moderation in outlook and of maintaining balance between over-weighing forces are the desirable trends in life. They are, therefore, apt to neglect these important aspects or give insufficient attention to them. Moderation is indeed a very essential teaching of Sahaj Marga. It advocates that nothing more or less should be done than what is naturally required to be done for a specific purpose without causing the slightest impression on the mind. It says that realisation is not possible unless moderation and balance are restored. Compare the following:

For one temperate in food and pleasure,
For one regulated in action and leisure,
For one punctual in sleeping and working,
Yoga destroys all sighing and sorrowing.

Sahaj Marga further insists on due observance of all the good callings in life making it obligatory that these be discharged in an incessant thought of God, as divine duties, In fact the efficiency achieved in these directions measures the

extent of self-culture attained, for instance:

And whatever deeds be performed during the day,
Taking refuge in Me and in prayer all the way,
He wins my favour and earns divine grace,
To reach My eternal abode with a radiant race,
Life is integral, that is what Sahaj Marga teaches.

It is not lived in compartments. It is lived in a constant remembrance of God. It is not exclusive but inclusive. It is not isolated but contained in the very humdrum of work-a-day living. There cannot be a segregation or specialisation as the wealthy and influential section are wont to think and organise themselves into clubs which end in the commitment of various orgies. Likewise there ought to be no morbidity which weighs down and burdens. The human and the divine must run side by side. That is the burden of self-culture which Sahaj Marga aptly delivers.

Sahaj Marga, again, is simple in its philosophic essence, though profound in its mission of drawing humanity back to its divine source as expeditiously as possible. It takes complete account of the human conditions of mundane life, take note also of the savage in man, his middle career of civilised existence, and links all the intermediate phases to his final hope of saintly perfection. It closely advocates that princely principle of self-culture, Swadharma, which is so well enshrined in our scripture.

Better is one's duty though done without merit,
Then doing another's work with glorious credit,
He who does duty ordained by his own nature,
Incurs no sin in the present or the future,
Even death in one's duty brings more satisfaction to the soul,
Than the peril one faces in another's bondage or dole.

Let no man leave his natural duty,
Because it is defective and lacking in some beauty,
For in every work there is always something to
blame,

Even as the smoke hides the fire of the flame.

Self culture and Sahaj Marga are thus the siamese twins. They are the same in their essential content and direction. They both aim at doing away with the discordant notes of life. They confer peace and well being on those who come to them for succour. Self Culture to be real must transform the outlook of a person and Sahaj Marga leads such a one to the highest state, the Everest of spiritual endeavour. Without the mark of self-culture it will be hard for one to appreciate Sahaj Marga and vice versa. What is wanted by the suffering man is no doubt, a rudder for his safe conduct across the ocean of life. But just this is not enough. He must supply the motive power for the ship of life to move. Self culture provides the fuel and the speed, while Sahaj Marga the force and the direction. Both are indispensable for the successful sail in life.



Q. Can there be a cause which might not have any effect ?

A. Every cause can be so. Provided the field of action is not allowed to be formed. If the field of action is not there, the cause will have no effect.

—Master

Free Thinking, Dogmatism, and Orthodoxy

(By S. A. Sarnad)

Free thinking and dogmatism are diametrically opposed to each other. A free thinker will never be dogmatic and a dogmatic person is never a free thinker. Free thinking implies open mindedness whereas dogmatism is the sign of a closed mind.

What is open-mindedness? In the words of John Dewey, "open-mindedness is the retention of childlike attitude and close-mindedness is premature intellectual old age." Thus a man in order to be a free thinker must develop open-mindedness.

Just as a child looks at things with wonder and inquisitiveness, so also one must probe into the nature of things about which he wants to know. A child has no prejudices regarding anything. He is simple and pure in mind and heart. He receives any and every impression—whether good or bad from the world outside. It is only when he grows older and older in age that he makes a sifting or sorting of these impressions and tries to retain only those which give him satisfaction or pleasure, or of which he has been conditioned from his early childhood to think as good ones. At such a stage prejudices set in and open-mindedness bids farewell. If somehow he is able to retain the former attitude (viz., wonder and inquisitiveness) throughout, he may be called open-minded.

How to cultivate open-mindedness by which free thinking becomes possible? First of all one should learn to respect the ideas of others even though he may not agree with them. Secondly, he must himself try to arrive at the root of things instead of depending on others' ideas. This, of course, is very dif-

ficult, which cannot be easily achieved by all. A man of ordinary intelligence has to depend on others' thinking at the initial stages. But it must be only to pick up the thought and not to continue it till the end. One may have to accept certain postulates but it should, in no way, deprive him of independent thinking and arriving at independent conclusions.

Strangulation of free thinking results in dogmatism. Strangely enough the word implies the attributes of a dog (though etymologically it is not so) ! Just as a dog licks the feet of its master even though he kicks it, a dogmatic person is so adamant on his principles that even if they are proved to be fallacious or useless he does not want to give them up. He thinks that the dogmas or theories he has accepted are final ones and that there can never be any scope for their improvement. This bars him from extending his outlook with the result that a permanent full stop is put to his intellectual and spiritual advancement. Though he possesses knowledge it is not worthwhile unless it is converted into wisdom and further into 'Divine wisdom.' Catholicity of outlook and appreciation or the merits of others pave the way to open-mindedness, growth of knowledge, wisdom, and divine wisdom successively. The old saying,

“युक्ति युक्तं वचो ग्राह्यं बालादपि शुकादपि ।

युक्तहीनं वचस्त्याज्यं वृद्धादपि शुकादपि ॥”

marks the height of open-mindedness, and free-thinking. “A sensible utterance should always be accepted even if it is said by a child or a parrot; on the contrary an insensible utterance should not be accepted even if it is said by an old man or even by sage Suka.”

Wisdom dawns upon him who has the attitude to readily discard his wrong ideas and accept the right ones. Indeed, the six systems of Indian philosophy were originally a result of free thinking and

open-mindedness. But it is unfortunate that later followers (not thinkers) became dogmatic about them in their absolute and undivided loyalty to a particular system. Open-mindedness became a foreign commodity and it was even tabooed in the name of 'sacred tradition. Maintaining the past traditions without questioning their merit or otherwise became the order of the day. Degeneration set in, and thus a sort of hankering after the possession of the husk rather than the kernel was the prominent feature among the masses in general and the learned in particular, whom the masses followed. Undoubtedly, the old garment of religion and tradition has, at present, become a thing of shreds and patches which has been rendered absolutely useless with the passage of time. Fresh spirit has to be found out, new values have to be fixed so as to suit the present age; and unless one does it—whether willing or not—there is no way to real progress. Our education has failed us if it does not encourage free and original thinking so as to re-orientate all these age-old things.

And what about orthodoxy? It is the worst enemy of any kind of development. According of Bertrand Russell, "Orthodoxy is the grave of intelligence, no matter what orthodoxy may be." The growth of intelligence of an orthodox person is thus sealed and with the cramping of intelligence his progress also ceases for ever. He will never be able to reap the finest fruits of higher life or fully developed life; Mental and spiritual development will only be possible in an atmosphere in which the individual is entirely free from the fetters of dogmatism and orthodoxy.

Orthodoxy is often mistaken for spirituality. 'Spirit' or 'Self' is said to be the essence of our existence, which one has to realize in one's naked and pure form like a baby. It is one

such domain where in we cannot proceed further unless we cast off narrow-mindedness, prejudices, and orthodox views. Hence to call orthodoxy as spirituality is a sheer misnomer. As our Master has put it, we have buried true religion and spirituality in the grave and only clap our hands in their name. "Outward forms and rituals are the only things that remain open to view which are followed with extreme orthodoxy and tenacity without even the least touch of reality." "This has further degenerated into bigotry, which has unfortunately become the permanent feature of the present day religion." Therefore it becomes imperative on all—especially spiritual aspirants—to cultivate free thinking which ensures progress in the real sense.



One must never give up the standard of humanity even though he be a realised Soul. Often people misunderstand the state of wonder, which almost every one passes through during the Course of his march, as that of doubt.

"Animal passion must be transformed and converted into the human passion (the true character of man).

If passions are made extinct, intelligence will altogether be lost"

—Master

The Natural Technique of Experiencing Perfect Calmness

by

Shri Marni T. Ramji,

M. A., M. Ed., N. D. Lecturer in English, Osmania University,
Hyderabad A. P.

Human life is a quest for perfect Calmness. The manifestations of the ultimate source or centre of perfect calmness are known by various sublime names as well as by various scientific and sublime terms. Peace, Bliss, Thought-Force, Life-Force, Truth, Beauty, Goodness, Love, Knowledge, Light, Nature and Energy are the manifestations of the ultimate centre of perfect Calmness, Simplicity and Purity. The goal of human life is to reach the ultimate centre and experience Perfect Calmness, Simplicity and Purity. Faith in the Ultimate Reality may be regarded as the first requirement for experiencing Perfect Calmness now and here. According to Sahaj Marga (the Natural Path of God realization) 'God as the Ultimate point of existence is the real origin from which everything has sprung up. Faith is the most vital factor of life. Faith in God implies cognizance of the Ultimate, the origin, or the Goal which one has finally to arrive at and which one has to keep in view all through his life-journey.

Spirituality is a technique of Sublime living now and here. No student can become an engineer without studying in a College of Engineering. No student can become a doctor without studying in a Medical College. No student can become a technician without receiving practical instructions in a Technical Institute. Similarly, no individual can become a Technician in the Technique of Sublime, calm living without receiving practical instruction from a Sublime Technical Expert who knows the na-

ture of the Ultimate Centre of perfect Calmness (God). From this vantage point, the Natural Path lays great emphasis on the role of the Spiritual Personality in the process of imparting instruction in the Natural Technique of experiencing Perfect Calmness now and here.

The rationale of the Natural Technique of Meditation advocated by the Natural Path may be explained briefly thus. Mind is the centre of vital force in man. The vital force expresses as thought-cum-feeling force in the mind. Mind has two tendencies; the upward tendency and the downward tendency. The downward tendency finds expression in thoughts and feelings of lust, anger, greed, selfishness and vengeance while the upward tendency finds expression in thoughts and feelings of love, purity, devotion, cheerfulness and unselfishness. It is by purifying the downward tendency that the mind turns towards the Ultimate Centre of Perfect Calmness which is within in every human being. It may be said that the basis of the vital force of the mind is the Ultimate Centre which operates as life-force in every human being and this life-force is active in the heart. By directing divine thoughts of light towards the heart zone (Heart plexus), fine thought atoms are introduced into the blood stream and these atoms of purity and piety get circulated throughout the entire human system. This promotes the purification of the downward tendency of the mind unconsciously. Later the divine thought-force of light and purity goes towards the throat and the space between the two eye brows which are two important centres where life-force (spiritual energy) is active. In other words, it is this type of natural meditation which purifies the mind and the other levels of spiritual freedom in the Mental zone and finally enables the sublime self of an individual to reach (or come very close to) the Ultimate Circle of Perfect Calmness. The natural Technique of Meditation is described in

the literature of the Sahaj Marg thus;

"Meditation is simply a process of thinking over and over again on a Divine aspect so as to form a connected link of thought. It has no connection with concentration, suppression or struggling. It aims at the gentle diversion of mind towards a Divine thought in the most natural way Sahaj Marg recommends meditation on heart and the thought taken up for the purpose is the presence of the Divine Light (Ishwariya Prakash) in it The heart is taken up only as a base for locating our attention and the presence of Divine light as a mere supposition, without slightest effort to locate the position of the heart or to visualize the Divine light. Meditation practised in this way shall be the subtlest in character hence completely free from all grosser effects."

The great Apostle of Natural Technique of Meditation is Shri Ramchandraji of Shahjahanpur (U. P., India) who is a great Spiritual Personality of India.

The efficacy of meditation on heart is pointed out thus: "The heart being the centre or the nucleus of the human body sends out blood to the whole body. By continued meditation at the point, the fine paramanus (atomic particles) of purity and piety introduced by the touch of Divine thought, are carried over to the whole body by blood flowing out from it. Thus the process of purification of the entire system goes on automatically and unconsciously."

The above Natural Technique of Meditation is the core of the Design of Sublime, Calm Living presented by the Natural Path. The other significant aspects of the Sublime Design of the Natural Path may be found in the Teachings and the commandments of the Sahaj Marg

In conclusion it may be pointed out that it seems to the

preent writer that the following may be regarded as the significant contributions of the Sahaj Marg a new school of Spiritual Thought to the Sublime Science of Spirituality.

Firstly, the Natural Path postulates the concept of the Ultimate Centre which is the Embodiment of Perfect Calmness, Simplicity and Purity as the Source from which everything has sprung up.

Secondly, it points out that the highest goal of life is to achieve complete oneness with God -- the Ultimate point or centre of Existence,

Thirdly, it advocates the natural technique of meditation in the form of gentle direction of divine thoughts or light and purity towards the heart plexus, for the realization of the highest goal of life, namely, God realization which is the state of closest unity or complete oneness with the Ultimate Centre of Perfect Calmness.

Fourthly, it points out that life is an integral whole and hence the two phases of life, the wordly and the divine must go side by side in conjunction with each other and equal attention should be paid to each phase of life.

Fifthly, it points out that the transformation of life into divine can be easily achieved by taking everything in life in the sense of duty and attending to the activities of life without any personal feeling of attraction or repulsion and thus by treating one's thoughts and actions to be subject to the divine will and it lays stress on the cultivation of sublime qualities of universal love, honesty, gentleness, courtesy, cheerfulness, tolerance And above all, it shows the paramount importance of the personality of Sublime Master in learning the technique of Sublime, Calm Living now and here.

May peace be unto all !!

**By the grace of the Divine Master
Shri Ram Chandra Mission
has established its own Press**

**the
SAHAJ MARG
Printing press
at Shahjahanpur U.P.**

We offer our deepest feelings of gratitude to our associates and the well wishers of the mission for their kind and generous support.

Ishwar Sahai

Shahjahanpur U.P.
September 1966

Superintendent
Publication Department
Shri Ram Chandra Mission

Ascetic With A Difference

B. D. Mahajan

Our Mission shri Ramchandra Missiom which has following from every walk of life, aims at reaching everyone at the highest. It is not the house but the jungle that we have to leave and be a true householder in this world, which is very much physical; not to become a jagadguru and get food of tastes from others but to be an independent soul as regards our worldly living by earning through the physique for the physique; not to take to saffron clothes to look ascetic but to remain in our normal dress to live a simple and unknown life; not to become impregnable with the egoism of Aham Brahamasmi but to be humble and recipient of the Master's message always; not to become rigid and cynical with our routine of puja and hours of forced sittings and whimsical nature but to become fluent with the course of events passing through the eye of constant remembrance of the Divine; not to be tryful to be equipped with this power and that power but to be losing everything what we call ours; not to be obstructive but to be constructive in the establishment of the Rule of Righteousness and not that but always this.

He always gives a direct touch to the newly introduced. He is not a one who is slow in action and is thinking always as though on the meter of Almighty but he attributes every thing to a natural course feeling always as light as ever. He can never be attracted to the lower complications because the astral check of the Master's functioning is always there. It happens because he has already seen once the king who commands full right over the lower attractions. He is full of love and care for everybody and thanks all those who come to give or take from him during the routine of his life. He is never the one ill or under-adjusted in his family life. He is a balanced one and is established in the

Divine always. He welcomes miseries and the difficulties because they are the bitter tablets which are going to cure the malady in the long run. He is always nearest to God. Trivial things matter trash to him. He is a scientist all in one as he can drain force through the negation or nothingness which he aims finally complete merger with and goes through any consciousness required for a stage. He is an efficient house-holder living in the minimum of every requirement. He is an efficient worker in office taking the work as his personal and juxtaposing the things at every stage and doing justice, establishing thus a divine order. He is kingly servant to his master or officers giving them, too, an inkling of kingly living. In his sphere of work he will always be the one through whom directions for the establishment of the righteousness will emanate. The lesser souls around him or her will have to seek the way through his presence. He will be bringing round the mind of the surrounded to the divine will. It may, of course be in the negative side first because the rule needed to be shattered is that of Satan. The principle of inverting applies every where. The negative side becomes equally important when it is inverted toward the positive side.

Difficulty or delay arises when the practitant who with the prayerful wish or the sanskara of other, gets a glimpse of the Divine but does not go further to make that glimpse as his own though his own efforts or Sadhana or when he has attained subtlety of a high degree and starts taking a dose of physical hindrance shattering thereby the fineness attained. Such a one should always keep in mind that the Master has still to take him around. Master through his astral functioning, of course, does not allow him to fall down his stage but his work is made a little difficult. The progress is stopped temporarily when his inner egoism takes an upper hand and he does not see eye to eye with the Master's

percolations directly or through his appointed ones. But the Master is very simple. He beats their attitude even through his personal conduct and milds them round. After all he has taken charge of them and every transaction is that of the Master. Age, sex or caste do not matter. Defect remains with their own understanding only. All have emerged out of the same centre of origin into which they are all going to get merged of course according to their respective times.

When a balance has been established between the practican't's worldly and astral functioning, he can find a divine order prevailing in his house. The nature is obvious to him. Everything is in its completeness in his own house. They glide forward in an automatic way without any resistance. The practican't, in due course of time, is living a kingly life and commands the backing of the Supreme in all his dealings which have been reduced to the minimum required as is demanded of a King's life. Contacts, thereafter, go on establishing their links in a natural course and he rises from success to success. He finds a peculiar permeation all over. Then only the universal mind or the almighty or the negation is to him and he to them—nothing else. He remains all prayerful.

I may say that the Master has laid open his treasure before us without any reservations or limitations. It remains upto us to loot him or get the treasure to the others in seeking without any considerations. Lucky are those who have come in direct contact with him. We should all pray for the best.